# शिक्षा और लड़कीपन

कृष्ण कुमार

अनुवाद : वर्षा

## शिक्षा और लड़कीपन

सबसे पहले, मैं यह बताऊंगा कि मैं लड़कियों की बजाय लड़कीपन पर बात करने को क्यों तरजीह देता हूं। दूसरा, मैं इस सवाल का जवाब देने का प्रयास करूंगा कि शिक्षा क्या है। तीसरा, हम संक्षेप में इस बात की पड़ताल करेंगे कि क्यों ज्ञान को स्वायत्त स्थान की जरूरत है। चौथा, हम भारतीय राज्य के अन्दर मनोवैज्ञानिक विभाजन पर अपनी प्रतिक्रिया देंगे। पांचवा, इससे हमें यह व्याख्यायित करने में मदद मिलेगी कि संस्कृति के साथ, विशेषकर लड़कीपन की संस्कृति के साथ काम करने में राज्य की क्या कठिनाइयां हैं। और अंत में, हम इस बात को समझेंगे कि आज के बढ़ते उपभोक्तावादी समय में लड़कियों की शिक्षा के सामने क्या कठिनाइयां आती हैं। इसके बाद, मैं निष्कर्ष के रूप में एक तोहफे के बारे में बताऊंगा जो एक छोटी लड़की को उसके माता पिता ने दिया।

## लड़कीपन क्यों?

इस लेख में मैंने लड़कियों की बजाए लड़कीपन पर बात करना तय किया है। इस चुनाव के पीछे दो अंतर्संबंधित कारण हैं। पहला कारण लड़कियों के लालन-पालन के बारे में मेरी समझ से संबंधित है। दूसरा ''बाल्यावस्था'' शब्दावली की उन कठिनाइयों के बारे में है जो तब पैदा होती हैं जब इसे लड़कियों के संदर्भ में लागू किया जाता है। भारत में लड़कियों के लालन-पालन के बारे में बड़ी मात्रा में जो साहित्य आज मौजूद है, और इस विषय के बारे में मेरा अपना जो अध्ययन है, उससे मैं इस बात से सहमत हूं कि सामाजीकारण का विचार उस तीव्रता को व्यक्त नहीं करता, जिस गहनता के साथ लड़कियों का उनके लालन-पालन के अपने रुटीन में इस तरह से अनुकूलन होता है कि वे एक निश्चित तरीके से ही व्यवहार करें। गहनता से मेरा मतलब उस निश्चयात्मकता से है जिसके साथ परिवार और कुटुम्ब समूह जैसे सामाजिक संस्थान लड़कियों को पूर्व निधारित भूमिका में ढालने का काम करते हैं। लीला दूबे (2001) ने उस प्रक्रिया को दर्शाने के लिए ''तयशुदा'' शब्द का प्रयोग किया है जिसके तहत एक लड़की अपनी नियति के रूप में औरत बनने का प्रयास करती है। इससे तुरन्त हमारे दिमाग में धातु को ढालने का रूपक आता है। लॉस्ट वैक्स मेथड (lost wax method) में लचीले मोम का कुशल हाथों दवारा एक पैटर्न बनाया जाता है, इसे मिट्टी पर मनचाहा डिजाइन पाने के लिए छापा जाता है। जब इसे भट्टी में पकाया जाता है तो धातु की ढलाई के लिए सांचा तैयार हो जाता है। ''लड़कीपन'' से मतलब इसी सांचे से है जिसे सदियों में संस्कृति दवारा ढाला गया है और जिसकी छाप लड़की के दिमाग पर एकदम शुरू से ही पड़ जाती है। छाप का यह विचार हमें उस कठिनाई को पहचानने में मदद करता है, जिसका सामना हम उस वक्त करते हैं जब हम महिलाओं के शुरुआती वर्षों को व्याख्यायित करने के लिए ''बाल्यावस्था'' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। यह बात स्पष्ट है कि यहां हम पैटर्न

की बात कर रहे हैं ना कि व्यक्तिगत जीवन की। व्यक्तिगत जीवन में तो हमें इस नियम के बहुत से अपवाद मिल जाएंगे।

जीवन के इस शुरुआती चरण के लिए ''बाल्यावस्था'' शब्द का इस्तेमाल करने से कुछ मानक अर्थों का बोध होता है जो इस शब्द ने ग्रहण कर लिया है। विचार के रूप में बाल्यावस्था शब्द की शरुआत 18वीं शताब्दी के यूरोप में हुई। लेकिन इसके मानक अर्थ, विशेषकर यह विचार कि बाल्यावस्था एक मासूम उम्र होती है जिसकी रक्षा की जानी चाहिए, का प्रसार पूरे विश्व में 20वीं शताब्दी के मध्य से शुरू हुआ (कुमार 2016)। यह मानक विचार कि बाल्यावस्था स्वतंत्रता का विशेषकर भय से स्वतंत्रता का समय होना चाहिए, नागरिकता के सामान्य सिद्धांत से निकला है और विशेष तौर पर बाल अधिकारों के विचार से निकला है। जब हम छोटी लड़कियों के रोजाना के जीवन का अध्ययन करते हैं तो जो पैटर्न हम यहां देखते हैं उनसे उपरोक्त विचार मेल नहीं खाते। जैसा कि मैंने पहले जिक्र किया है, इसी सांस्कृतिक धातुकर्म की प्रक्रिया से लड़कियां दिन-प्रतिदिन होने वाले अपने खास अनुभवों से मिलने वाले ज्ञान को आत्मसात करती जाती हैं।

## शिक्षा क्या है?

लड़कीपन के विषय पर हम दुबारा लौटेंगे, लेकिन इसके पहले सर्वप्रथम हम शिक्षा पर बात करें और सीधा सवाल पूछें - शिक्षा क्या है? मैं 20वीं शताब्दी में मानव मस्तिष्क के विकास और उसकी प्रकृति पर हुए ढ़ेरों अध्ययनों के आधार पर अपना उत्तर देने का प्रयास करूंगा। निस्संदेह इन अध्ययनों में कई बहसें हैं और उनकी अपनी अस्पष्टताएं भी हैं, लेकिन ऐसे विषय भी हैं जिन पर सहमति बन चुकी है। विशेषकर इस समझ के बारे में कि बच्चे कैसे सोचते और सीखते हैं। इस साहित्य को आधार बनाकर हम निम्न उत्तर दे सकते हैं : शिक्षा वह माध्यम है जिसके जरिये हम भौतिक दुनिया में अपना स्थान सुनिश्चित करते हुए सामाजिक दुनिया में प्रवेश पाते हैं। ''भौतिक'' और ''सामाजिक'' उस परिवेश के महज दो आयाम नहीं हैं जिनमें बच्चा जन्म लेता है, बल्कि यह वे दो रूप है जिन्हें परिवेश ग्रहण करता है। दोनों के बीच मुख्य अन्तर यह है कि भौतिक परिवेश मूर्त होता है या दृश्यमान होता है जबकि सामाजिक परिवेश मूर्त नहीं होता। अपने भौतिक रूप में परिवेश को अपनी ज्ञानेन्द्रियों से महसूस किया जा सकता हैं, लेकिन सामाजिक रूप में परिवेश को खोजना पड़ता है और इस खोज के लिए ज्ञान और कौशल की जरूरत पड़ती है। मानव के बच्चों को यह बात खुद समझनी होगी कि कैसे सामाजिक परिवेश उन पर और उनके जीवन पर प्रभाव डालता है।

ये दो परिवेश इस तरह से भिन्न क्यों हैं? इसका कारण यह है कि भौतिक परिवेश का अस्तित्व होता है और यह वर्तमान में मौजूद तत्वों से निर्मित होता है, जबकि सामाजिक परिवेश उन तत्वों से बना होता है जिन्हें एक अतीत आकार देता है जो वर्तमान की परिधि को निर्धारित करता है। कोई भी अतीत को देख नहीं सकता अथवा ना ही यह देख सकता है कि सामाजिक परिवेश उस वर्तमान क्षण तक कैसे निर्मित किया गया था, जिसमें एक बच्चा/बच्ची मौजूद होती है। एक बच्चा/बच्ची जो सामाजिक परिवेश के निर्माण को ध्यान देने और समझने के लिए प्रशिक्षित है, केवल वही अपनी कल्पना की मदद से इसे खोज सकती है और इस पर अपनी पकड़ बना सकती है। यही वह कार्य भार है जिसे शिक्षा को पूरा करना चाहिए, अगर इसे सामाजीकरण से भिन्न होना है तो। सामाजीकरण इस तरह से घटित होता है कि बच्चे को पता ही नहीं चलता कि वह इस सामाजिक संसार में शामिल हो गया है। वहीं दूसरी ओर शिक्षा प्रवेशार्थियों को उन सभी मांगों का सामना करने योग्य बनाती है, जो चीजों को जानने की प्रक्रिया में उनकी चेतना उनसे मांग करती है। इस तरह, सीखने वाले के सामने यह उजागर करके कि इस सामाजिक संसार का एक लम्बा अतीत है जिसमें यह मानवीय प्रयासों के गुणों से विकसित हुआ है, शैक्षिक प्रक्रिया इस बात को क्षीण कर सकती है कि यह सामाजिक संसार बदल नहीं सकता।

## घर एवं स्कूल के बीच तनाव

यह विश्लेषण, घर में सामाजीकरण और स्कूल में शिक्षा के बीच होने वाले अनिवार्य तनाव की ओर इशारा करता है। जहां घर बच्ची के सामाजिक संसार में शामिल होने और इसमें उनके समायोजित होने के लिए आवश्यक ज्ञान मुहैया कराता है, वहीं स्कूल विभिन्न क्षेत्रों और कई तरह के ऐसे ज्ञान से संबंध रखता है जिसके लिए घर से मिले हुए ज्ञान से संगति रखना कोई जरूरी नहीं है। स्कूल में हासिल किए गए कुछ तरह के ज्ञान को सामाजिक संसार की स्वीकार्यता अथवा प्रशंसा भी मिल सकती है, जबकि परिवार द्वारा दिए गए दूसरे तरह के ज्ञान से असंतोष और सवाल पैदा हो सकता है, इस तरह बच्ची के सामाजिक संसार में समायोजित होने में बच्ची की तैयारी में, परिवार की भूमिका को उसके नियम व मूल्यों समेत कम किया जाता है। यहां पर, स्कूलों द्वारा किसी खास व्यवस्थागत परिस्थितियों के तहत प्रदान की जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता में हमारी रुचि नहीं है। हम स्कूल को एक ऐसी संस्था के रूप में निर्दिष्ट कर रहे है जिसे समाज ने युवा लोगों को इस तरह सशक्त करने का कार्यभार दिया है जिससे वे विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान प्राप्त कर सकें और उसे समझ सकें। कभी-कभी पाठ्यचर्या मतारोपण करने के लिए डिजाइन की गई प्रतीत होती हैं।

अक्सर पाठ्यचर्या में मौजूद ज्ञान अथवा विषयों में ऐसे संदेश अथवा विचार होते हैं जो बच्चों के मस्तिष्क को अस्थिर कर सकते हैं क्योंकि वे घर में जो कुछ सिखाया जाता है उसके विरोध में होते हैं। यह एक कारण है कि क्यों कभी-कभी शिक्षा के अप्रत्याशित परिणाम होते हैं। शिक्षा की हमारी परिभाषा यह बताती है कि बच्चों की कल्पनाओं और उनकी बौद्धिक ऊर्जाओं को शिक्षित करने की प्रक्रिया केवल तभी अपनी असली क्षमता हासिल कर सकती है जबकि स्कूल अपने क्रियान्वयन में एक हद तक स्वायत्त हो। मैं स्वायत्ता की बात उस अर्थ में कर रहा हूं जहां शिक्षक ज्ञान की व्याख्या करते हैं, जिन तरीकों से वे पढ़ाते व मूल्यांकन करते हैं और स्कूल जिन संसाधनों को मुहैया कराते हैं। स्वायत्ता जितनी ज्यादा होगी उतनी ही ज्यादा इस बात की संभावना होगी कि स्कूल उन अर्थो में शिक्षित करेंगे जिनके बारे में हमारी पहले की चर्चाओं में संकेत किया जा चुका है।

## राज्य की प्रवृत्ति एवं भूमिका

आधुनिक समय में स्कूल राज्य के एक संस्थान की तरह काम करते हैं। यह राज्य विशेष कैसा है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। राज्य कैसा भी हो, ऐसा लगता है कि आज सभी समाजों ने शिक्षा का कार्यभार राज्य को सौंप दिया हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम भारत में राज्य की ऐतिहासिक उत्पत्तियों को देखें तो हमें उपनिवेशवाद की छाप जरूर दिखाई देगी। जैसा कि 'पालिटिक्स आफ एजुकेशन इन कोलोनियल इंडिया' (कुमार 2013 ए) में दर्शाया गया है, उपनिवेशवाद एक विचारधारा भी है और एक खास तरह का व्यवहार भी। विचारधारा के रूप में यह शासकों और शासित जनता के बीच एक खास तरह का संबंध बनाता है। औपनिवेशिक राज्य मशीनरी को इस तरह से तैयार किया जाता था कि वह कानून व्यवस्था को बनाए रखे और जब कानून व्यवस्था बिगड़ जाए तो जल्दी से जल्दी उसे दुबारा दुरुस्त किया जा सके। भारतीय राज्य का यह मुख्य काम था, हालांकि समय के साथ कुछ और काम भी उभर आए और राज्य के हिस्से में आ गए। ये दूसरे काम संविधान के मूल्याधारित ढांचे से निकलते हैं व अपनी प्रकृति में उत्पादक हैं।

इन उत्पादक कामों और इसके पुराने प्रभावी काम के बीच एक अन्तराल है। इस कारण से, भारतीय राज्य मनोवैज्ञानिक रूप से बंटे हुए एक व्यक्ति की तरह व्यवहार करता है- अपनी सहज प्रवृति और अपने सचेत चुनाव के बीच बंटा हुआ। यह बुनियादी सहज प्रवृत्ति नियत्रंण करने की है- अपनी इस शक्तिशाली सहज प्रवृत्ति के कारण राज्य हमेशा इस संदेह में जीता है कि कहीं सामान्य जनता उसके नियत्रंण से बाहर ना निकल जाये। ''देशी'' जनता के बारे में औपनिवेशिक विचार ने ही तथाकथित जनता के बारे में राज्य के विचारों को गढ़ा है। इस विचार ने राज्य के इस संदेह को बढ़ा दिया कि कहीं वह जनता पर अपना नियंत्रण खो ना दे। राज्य के निर्णय लेने की प्रक्रिया का जो सचेत हिस्सा है वह

सामान्य जनता के प्रति उसके हितकारी भाव से चालित होता है और जनता के बारे में भिन्न नजरिये से काम करता है। राज्य के इन हितकारी भावों में यह सचेतता निहित है कि सामान्य जनता जिम्मेदार नागरिक की तरह व्यवहार करने में सक्षम है। एक नागरिक, जिसकी राज्य के कामों में हिस्सेदारी है, के इस विचार ने एक तरह के अधूरे जीवन को हासिल कर लिया है : इससे एक तरफ लोकतंत्र का राजनीतिक हिस्सा गति पाता है वहीं इसका शासकीय हिस्सा नियंत्रण का व्यवहार करता है।

जनता की संस्कृति के साथ राज्य के जुड़ने की कठिनाइयां उसके इसी विभाजित व्यक्तित्व से पैदा होती हैं। ऐतिहासिक रूप से 1857 को वह निर्णायक मोड़ समझा जाता है जब औपनिवेशिक राज्य ने सांस्कृतिक मामलों से अपनी दूरी बनाने का निर्णय लिया। स्वतंत्रता से पहले के 90 सालों में औपनिवेशिक राज्य ने सामाजिक नीतियों को बहुत ही संयम और सर्तकता के साथ बरता। बाल विवाह जैसे सांस्कृतिक व्यवहारों के बारे में बने कानून बहुत अस्पष्ट थे और मुश्किल से ही लागू होते थे। ''बाल विवाह'' में ''बाल'' शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ लिए हुए है और जरूरी नहीं कि इसकी उत्पत्ति औपनिवेशिक ही हो। इसमें लड़के, लड़की दोनों को समान तरीके से देखने की प्रवृत्ति है, और इस तरह से उस बड़े अन्तर को नजरअंदाज कर दिया जाता है, जहां परिवार और समुदाय में उनके सामाजिक अस्तित्व के संदर्भ में, लड़के व लड़कियों का अनुभव भिन्न-भिन्न होता है। बाल विवाह के परिणामों का अध्ययन करने वाली एम. वी. जोशी कमेटी (1928-29) ने बड़ी मात्रा में चिकित्सकीय और दूसरे सबूतों द्वारा यह दिखाया कि छोटी लड़कियों का विवाह का अनुभव कितना भयानक हो सकता है (राथबोन 1934)। हम इन अनुभवों की तुलना बाल विवाह बंधन में बंधने वाले लड़कों के अनुभव से नहीं कर सकते।

इस कानून में जेन्डर निरपेक्षता औपनिवेशिक राज्य की अपनी सीमाओं की उसकी समझ से पैदा हुई थी। राज्य और समाज के बीच के औपनिवेशिक संबंधों में विशेषकर औरतों से संबंधित मामलों के बारे में औपनिवेशिक राज्य काफी सावधानी बरतता था। इस सावधानी के पीछे का तर्क यह था कि औरतें संस्कृति का केन्द्र मानी जाती हैं। इस तरह, ऐसे विचारों से सार्वजनिक नीतियों को औरतों के जीवन और उनके मुद्दों को औरतों के दायरे के भीतर ही देखने की अनुमति मिल जाती है। वास्तव में, राज्य ने पुरुषवादी परिप्रेक्ष्य अपना लिया है और पित्तसत्ता को बिना छेड़े, आधुनिकता वाली शासन पद्धति के तहत इसे नए रूप में फिर से लागू होने दिया है। शिक्षा में सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील माने जाने वाले मुद्दों पर सावधानी का मतलब है- लड़की विषयक पाठ्यचर्या की नीतियों को प्रोत्साहित करना। लड़कियों के बीच शिक्षा के प्रसार के लिए घर और स्कूल के बीच एक मजबूत निरन्तरता को एक पूर्व शर्त समझा जाने लगा। इस दृष्टिकोण के तहत, स्कूल ऐसा कोई काम नहीं करेगा जिससे घर पर हो रहे लड़कियों के सामाजीकरण के कारण पैदा होने वाले नियमों, ज्ञान और आत्म पहचान को कोई भी क्षति पहुंचे।

आज यह दृष्टिकोण एक अनकही नीति और एक सामान्य परिप्रेक्ष्य बन चुका है। लड़के और लड़कियों के बीच भेद ना करने का मतलब है कि लड़कियां घरों में जो जीवन जीती हैं उसे नजरअंदाज करना और लड़कियों के रोजाना के उस अनुभव के यथार्थ को भी अनदेखा करना जो वे घर और स्कूल के बीच कई समझौते करते हुए जीती हैं। एक लड़की जब यूनीफार्म पहनकर स्कूल में प्रवेश करती है, तो वह अपने पीछे घर की उस लड़की को छोड़ कर नहीं आती, जिसका जीवन अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों और उसके परिवार व समुदाय की मांगों व अपेक्षाओं से परिभाषित होता है। ये दोनों लड़कियां एक ही शरीर में रहती हैं लेकिन दोनों भिन्न मानसिक जीवन जीती हैं। स्कूल जब लड़के लड़कियों दोनों को धर्म निरपेक्ष शिक्षा देता है तो दोनों के लिए इसका अर्थ अलग-अलग होता है जो उनके जेण्डर और जीवन में उनकी खास सांस्कृतिक भूमिका को निभाने से जुड़ा होता है। लड़कियों की चेतना पर यह छाप पड़ जाती है कि एक उपकरण और प्रतीक के रूप में उनका शरीर ही उनके अस्तित्व का प्रमुख रूप है। स्कूल के ज्ञान का जो अर्थ लड़का ग्रहण करता है, उसकी तुलना में लड़कियां उसी ज्ञान का भिन्न अर्थ ग्रहण करती हैं जो पहले से ही अपने को शरीर और उपकरण के रूप में देखे जाने सम्बन्धी सांस्कृतिक मान्य विचारों को आत्मसात कर चुकी होती हैं।

## भय के अनेकों स्तर

भय और समर्पण के लिए तैयार रहना सामाजिक रूप से अनुमोदित लड़कीपन में गहराई से घुला-मिला रहता है। भय को उस व्यापक फ्रेमवर्क में चिन्हित किया जाना चाहिए जहां पितृसत्ता के तहत जैसा जीवन औरतों से जीने की अपेक्षा होती है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य से हमें तीन स्तर के भय को चिन्हित करने में मदद मिलती है। मैंने अपनी हाल की किताब चूड़ी बाजार में लड़की (कुमार 2013 बी) में इन तीन स्तरों का इस्तेमाल करते हुए एक लड़की के दिमाग में भय के पुरातत्व को दिखाने की कोशिश की है। सतह पर यह भय शरीर को नुकसान पहुंचाने के अर्थ में काम करता है कि कहीं हमारे शरीर को कोई हानि न पहुंचे। हमारे लिए इस चीज को पकड़ना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका परिणाम शैशवावस्था और बाल्यावस्था के दौरान विशेष कर खेल के संदर्भ में दिखाई देता है। खेलों की ताकत यह है कि छोटे बच्चे खेल में अपने शारीरिक बल को महसूस करके खुश होते हैं। यह खुशी उस समय काफूर हो जाती है जब उनके माता-पिता की घूरती आंखें उन्हें इस चिन्ता से भर देती हैं कि इतना अधिक खेलने से लगने वाली चोट के दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। लड़कीपन का मतलब है कि अपनी शादी के संदर्भ में इसके परिणामों से डरना सीखना। महादेवी वर्मा (1999) लड़की के शरीर की व्याख्या करते हुए रूपक के रूप में वाणिज्यिक वस्तु शब्द का इस्तेमाल करती हैं। वाणिज्यिक वस्तु को खरीददार के आने तक एकदम सुरक्षित रखा जाता है।

दूसरे स्तर पर भय, यौनिकता में दिखता है। शरीर के अर्थ में इज्जत जाने के खतरे को आत्मसात करने के कई रूप होते हैं। और यहां बड़ों की घूरने वाली दृष्टि कई तरह के संदेश देती है। लेकिन यहां यह घूरने वाली दृष्टि अपने भीतर कई तरह की चीजें समाहित किए हुए है- जैसे पौराणिक शक्तियों के विभिन्न रूप, उसका प्रतिनिधित्व, और उसके उत्सव। द्रौपदी द्वारा महसूस की गई विवशता और एक अन्य परिस्थिति में सीता की अग्निपरीक्षा, ऐसी शक्तिशाली पौराणिक कथाएं हैं जो यह बताती हैं कि स्वीकार्य औरत बनने की उनकी यात्रा में लड़कियों द्वारा भय को आत्मसात किया जाना कितना जरूरी है। भय का यह पौराणिक प्रतिनिधित्व इसके महत्व पर जोर देता है और यह स्वयंसिद्ध निष्कर्ष निकालता है कि पुरुषों पर निर्भरता को स्वीकार करके इस भय से बचा जा सकता है। यह शिक्षा तीसरे स्तर के भय के लिए प्रासंगिक है जो स्वाधीनता और स्वतन्त्रता से भय की बात करता है। स्वतंत्रता से भय का मतलब है कि स्व पूरे तरीके से समाज प्रदत्त पहचान में मिल जाता है या उसमें घुल जाता है। स्व की अनुपस्थिति या उसके कमजोर होने से (गुप्ता, 2015) व्यक्तिगत लक्ष्यों को बनाए रखने और उसे हासिल करने के पीछे की प्रेरणा पर महत्वपूर्ण असर पड़ता है।

घर पर होने वाले प्राथमिक या शुरुआती सामाजीकरण के इन परिणामों से शिक्षा के लिए विकट समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। हालांकि, ये समस्याएं कभी भी चुनौतियों में तब्दील नहीं हो पातीं। क्योंकि, शिक्षा के संरक्षक और प्रबंधक के रूप में राज्य ऐतिहासिक रूप से इस तरह से अनुकूलित हो चुका है कि वह सांस्कृतिक मामलों में पड़ने से हमेशा अनिच्छुक रहता है (कुमार 2010)। राज्य के लिए, दोनों लिंगों के बीच समानता का मतलब कक्षा-कक्ष में लड़के लड़कियों की संख्या का संतुलित होना ही है। शिक्षा के क्षेत्र में उनके अलग-अलग अनुभवों को राज्य के दस्तावेज मान्यता नहीं देते। इस तरह, अंकगणितीय अर्थ में तो समानता हासिल की ही जा चुकी है। पाठ्यचर्या, पाठ्पुस्तक और शिक्षक की तैयारी से संबंधित मामलों में राज्य ने बिना लड़कीपन को संबोधित किए हुए (जो कि लड़कियों के लिए सांस्कृतिक रूप से तय किया गया जीवन है) लड़कियों पर केन्द्रित करते हुए कुछ निश्चित प्रयास किए हैं। महिला एवं पुरुष शिक्षकों में से किसी की भी इस बात की तैयारी नहीं है कि वे वार्षिक कैलेण्डर में और दिन-प्रतिदिन के स्कूली जीवन में शिक्षा के उद्देश्य और लड़कीपन के बीच उठने वाले संघर्ष या अंतर्विरोधों को कैसे संबोधित करें। जहां शिक्षा से मतलब लड़की द्वारा चुने गए लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसका प्रयास है वहीं लड़कीपन का मतलब यह है कि वह शादी और मातृत्व को औरत की जिन्दगी का सर्वोच्च लक्ष्य मानते हुए उसका प्रयास करे। लड़की का घर पर जो जीवन होता है उसमें स्कूल को बहुत कम रुचि होती है। लड़के लड़कियों के बीच भेदभाव रहित या तटस्तथता का व्यवहार करते हुए, स्कूल

जिन्दगी के उन परिणामों को नजरअन्दाज कर देते हैं जो वे घरों पर जीते हैं। यह आतंक समेत भय के उन स्तरों को भी नजरअन्दाज कर देता है जो लड़की की भीतरी मानसिक दुनिया में पौराणिक और लोक आख्यानों, रीतिरिवाजों और अनुष्ठानों का इस्तेमाल करते हुए सांस्कृतिक छापों द्वारा गढ़ी गई होती है। थोड़ी सी लड़कियां इस छाप से बच जाती हैं या अपनी शिक्षा का इस्तेमाल करते हुए स्वतंत्रता हासिल कर लेती हैं। लेकिन ये लड़कियां प्रायः अपने आपको महाभारत के युवा नायक अभिमन्यु की भूमिका में पाती हैं जिन्हें अपनी लड़ाई खुद लड़नी होती है। लड़कियों की शिक्षा को यह श्रेय मिल सकता है कि उन्होंने कुछ हजार अभिमन्यु पैदा किये जिसका दूसरों के लिए प्रतीकात्मक और प्रेरणादायी मूल्य है। एक बड़ी बहुसंख्या के लिए शिक्षा अतीत की वह सुखद स्मृति है जहां लड़कियां दिन में, स्कूल या कालेज की चहारदीवारी के भीतर आतंक से स्वतंत्रता का अनुभव करती हैं।

## एक नया गठजोड़

निकट भविष्य में शिक्षा की भूमिका और सिकुड़ सकती है और उसे लागू करना और भी मुश्किल हो सकता है क्योंकि परम्पराओं और पूंजी का गठजोड़ बढ़ता जा रहा है। बाजार और संस्कृति के बीच का यह गठजोड़ लड़कियों की जिन्दगी पर अपना शिकंजा कस रहा है, और इस तरह लड़कीपन को एक नयी मजबूती प्रदान कर रहा है। खुद को एक शरीर के रूप में आत्मसात करवाते हुए एक स्वीकार्य औरत के रूप में लड़की का सामाजीकरण करना बाजार और परम्परा का सम्मिलित एजेण्डा है। बाजार में, शरीर को वस्तु के रूप में ढालने के उत्पाद बनाने वाले विभिन्न उद्योग और इन उत्पादों का प्रचार करने और उन्हें प्रोत्साहित करने वाला इलेक्ट्रानिक मीडिया पार्टनर के रूप में शामिल हैं। टेलीविजन और सिनेमा भी लड़कियों के व्यक्तित्व को शरीर के रूप में प्रस्तुत करते हुए इसमें उनका सहयोग और उनकी सक्रिय भागीदारी चाहते हैं। शरीर से जुड़ी वस्तुओं एवं सेवाओं के बढ़ते उपभोग के कारण लड़कीपन की संस्कृति मजबूत होती है। यह एक अनर्गल बात है, हालांकि हमारे समय में ऐसी सोच कोई असामान्य बात नहीं है कि लड़कियों के शरीर केन्द्रित प्रोजेक्ट में लिए जाने को कुछ क्षेत्रों में इस तरह व्याख्यायित किया जाता है मानो यह उनके व्यक्तित्व की पहचान का सबूत हो।

प्राथमिक स्कूल में पढ़ने वाली एक छोटी लड़की के माता पिता ने उसके लिए एक ड्रेसिंग टेबल खरीदा। उसने आईलाइनर का इस्तेमाल करना सीखा और वह जानती है कि उसके कपड़ों से मैच करती हुई लिपिस्टिक का सही रंग क्या होगा। अपने गाल पर गुलाबी लालिमा लगाये वह शीशे में अपने को निहारते हुए सज संवर रही है। उसके माता पिता उसे प्रशंसा से देख रहे हैं और वह उनकी तरफ हाई हील की सैन्डिल पहने डगमगाते कदमों से चली आ रही है। उसके कक्षा के बहुत से बच्चे वार्षिक समारोह में अपनी प्राथमिक शाला में इसी तरह के कपड़े पहनते हैं। इस तरह, शुरू होती है उसकी लंबी शिक्षा-यात्रा। ◆

**लेखक परिचयः** जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।